

वेदों में वर्णित परमसत्ता का स्वरूप : एक अध्ययन

अभिषेक अग्निहोत्री

शोध छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

आध्यात्मिक राष्ट्र के रूप में भारत भूमि सुप्रसिद्ध है। भारतीय संस्कृति धर्माधिष्ठित संस्कृति है। इस भारतभूमि के व्यक्ति एवं समाज का लक्ष्य इहलौकिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निःश्रेयस की प्राप्ति है। भारतीय संस्कृति रूपी अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं से युक्त इस विशाल प्राचीनतम अक्षयवट के मूल तने की खोज की जाय तो निश्चित रूप से यह खोज वैदिक वाग्मय तक जाकर पूर्ण होगी, क्योंकि वेद मात्र भारत का ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व का सबसे प्राचीनतम वाग्मय है। भारतीय धर्म तथा दर्शन के प्राण वेद हैं। वैदिक ऋषियों ने अपने अंतर्मन से जिस सत्य की अनुभूति की तथा जिसके आधार पर उन्होंने जीवन-पद्धति का निर्माण किया, उसका अविरल प्रवाह अविच्छिन्न रूप से भारतीय संस्कृति में प्रवाहित हो रहा है। वेद अक्षय विचारों का मान सरोवर है जहाँ से विचारधारा प्रवाहित होकर भारतभूमि में मस्तिष्क का उर्वर बनाती हुई प्रवाहित होती है। भारतीय संस्कृति में जो जीवन-शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण वेद है। भारत में उत्पन्न किसी भी धर्म, पन्थ, मत, दर्शन या सम्प्रदाय के मूल में जाना है तो वेद में जाना होगा। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार किसी भी भारतीय विचारधारा की सही-सही व्याख्या के लिए ऋग्वेद के सूक्तों का अध्ययन अनिवार्य रूप से आवश्यक है।¹ किसी भी धर्म, पन्थ, मत, दर्शन या सम्प्रदाय के परलौकिक चिंतन का मूल आधार परमसत्ता विषयक अवधारणा होती है। उस परमसत्ता का स्वरूप क्या? इसी स्वरूप को हमारे वेदों में भिन्न-भिन्न माध्यमों से स्पष्ट किया गया है-

एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति- (ऋग्वेद-1/164/46)

सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्-

(छान्दोग्योपनिषद्-6/2/1)

सृष्टि के प्रारम्भ काल से ही मानव अपने आस-पास घटित होने वाली घटनाओं से अभिभूत होकर किसी एक ऐसा सत्ता की कल्पना के लिए विवश होता रहा है, जो इस लौकिक दृश्यमान जगत से परोक्ष होकर भी उसका अधिष्ठाता है। वेदों में इस अधिष्ठित शक्ति अर्थात् परमसत्ता का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है। वेदों में इन्द्र, अग्नि, रुद्र आदि देवताओं की स्तुतियाँ भिन्न-भिन्न सूक्तों में की गयी हैं, परन्तु शीघ्र ही एक ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न हुई, जिसने अंतःकरण में प्रश्न किया कि हम अपने मानसिक यज्ञ में किसी विशिष्ट देव के लिए आहुति दें।² वैदिक ऋषियों ने उद्घोष किया कि यथार्थ सत्ता एक ही है, विद्वान लोग उसे अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं।³ जिसके परिणामस्वरूप ऋषियों ने इस बात का निश्चय किया कि ऐसी परमसत्ता अवश्य है, जिसकी अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि भिन्न-भिन्न संज्ञायें तथा आकृतियाँ हैं। पुरोहित और कवि लोग शब्दजाल के द्वारा उस सत्ता को, जो केवल एक ही है, भिन्न-भिन्न रूपों में वर्णन करते हैं।⁴ ऋषियों का चिंतन और भी अग्रसर होता रहा, उन्होंने विचार किया कि उस एकमात्र परमसत्ता का स्वरूप क्या है, जिसको भिन्न रूपों में वर्णित किया गया है। वस्तुतः कौन जानता है, कौन कह सकता है कि ये यहाँ से उत्पन्न हुए? कहाँ से यह विशेष सृष्टि की

रचना हुई? इस सृष्टि की तुलना में देव बाद के हैं, इसलिए और कौन जान सकता है कि यह संसार कहाँ से प्रकट हुआ।⁵ ऋषियों ने एक हृदयग्राही सरलता के साथ परमसत्ता के अनिर्वचनीयता का उद्घोष करते हुए कहा कि हम उसे देख नहीं सकते, हम उसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं कर सकते। ऋग्वेद में सृष्टि के पूर्व की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'उस समय न असत् था न सत् था और न ही परमाणुओं से भरा आकाश ही था, उस समय वहाँ क्या आच्छादित था? किसके आश्रय से था?'⁶ अतः यह विदित होता है कि उस अवस्था को जिसमें परमात्मसत्ता के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था, लौकिक इन्द्रियों के माध्यम से जान पाना या वर्णित कर पाना सम्भव नहीं है। वेदों में हमें एक ऐसे आदर्शकाल की झलक मिलती है, जहाँ समस्त विचारधाराएँ छायारूप होकर पूर्ण सत्य की ओर इंगित करती हैं। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार 'परब्रह्म एक और अद्वितीय है, जिसे भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में और अन्वेषकों की भी अपनी भिन्न रुचियों के कारण भिन्न-भिन्न नामों से पुकारा जाता है। इस विचार को प्रचलित धर्म के साथ समन्वित करने को एक संकीर्ण विचारमात्र न समझना चाहिए। यह गम्भीर दार्शनिक सत्य के रूप में दैवीय प्रेरणा का परिणाम है।'⁷ ऋषियों की यह अनुभूति उपनिषदों में और अधिक प्रकृष्ट रूप में होती है कि उस यथार्थ परमसत्ता को इन्द्रियों के माध्यम से जान पाना या वर्णित कर पाना कठिन ही नहीं, वरन असाध्य है। केनोपनिषद के अनुसार-वहाँ ना तो चक्षु-इन्द्रिय पहुँच सकती है, न वाक् इन्द्रिय और न मन ही, जिससे उस परमसत्ता को बताया जाय कि वह ऐसा है और ना तो हम स्वयं अपनी बुद्धि से जानते हैं, न दूसरों से सुनकर ही जानते हैं, क्योंकि वह जाने हुए पदार्थ समुदाय से भिन्न ही है और न जाने हुए से भी ऊपर है।⁸ तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि जहाँ से मन के सहित वाणी इन्द्रियाँ उसे न पाकर लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला पुरुष कभी भय नहीं करता।⁹ कठोपनिषद के अनुसार यह परमसत्ता न तो प्रवचन से, न बुद्धि से, न बहुत सुनने से ही प्राप्त हो सकता है, जिसको यह स्वीकार कर लेता है उसके द्वारा ही प्राप्त किया जाता है।¹⁰ मुण्डकोपनिषद में कहा गया है कि वह परमसत्ता न तो नेत्रों से, न वाणी से और दूसरी इन्द्रियों से ही ग्रहण करने में आता है तथा तप से अथवा कर्मों से भी ग्रहण नहीं किया जा सकता, उस निष्फल को तो विशुद्ध अंतःकरण से ध्यान करता हुआ ही ज्ञान की निर्मलता से देख पाता है।¹¹ ऋषियों का स्पष्ट मन्तव्य है कि उस परमसत्ता को यद्यपि किसी इन्द्रिय के द्वारा प्रत्यक्षीकृत नहीं किया जा सकता, परन्तु उसके अस्तित्व को लेकर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। विशुद्ध अंतःकरण वाले को ध्यान के द्वारा उसकी अपरोक्षानुभूति अवश्यम्भावी है। वैदिक वाङ्मय में जिस एक शब्द को परमसत्ता के वर्णन के लिए सर्वाधिक महत्व दिया गया वह 'ऊँ' है। यजुर्वेद के अनुसार आकाशवत व्यापक ऊँ ही ब्रह्म है।¹² उपनिषदों में ऊँ के स्वरूप का अत्यन्त यह आँकार ही पर और अपर ब्रह्मा हैं।¹³ कठोपनिषद् के अनुसार सम्पूर्ण वेद जिस परमपद का बारम्बार प्रतिपादन करते हैं और सम्पूर्ण तप जिसके साधन हैं, जिसको चाहने वाले साधकगण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद तुम्हें संक्षेप में बतलाता हूँ, ऊँ ऐसा यह है।¹⁴ यह अक्षर ही तो ब्रह्म है।¹⁵ तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार ऊँ ही ब्रह्म है। ऊँ

ही यह प्रत्यक्ष दिखायी देने वाला समस्त जगत् है।¹⁶ यही पर यह भी कहा गया है कि सामवेद गान करने वाले 'ऊँ' इस प्रकार ईश्वर का नाम लेकर ही सामगान किया करते हैं।¹⁷ माण्डूक्योपनिषद् में ऋषि कहते हैं कि ऊँ अक्षर ही सब कुछ है, यह सम्पूर्ण जगत् का उपाख्यान है, भूत, भविष्यत् और वर्तमान में ओंकार की है।¹⁸ श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि वे दोनों जीवात्मा और परमात्मा शरीर में ही 'ओंकार' की साधना करने पर प्राप्त हो सकते हैं।¹⁹ इस प्रकार यह विदित होता है कि उपनिषदों में 'ओंकार' ब्रह्म का वाचक होने के साथ-साथ उसे प्राप्त करने का साधन भी है। ओंकार को नाद या ब्रह्म भी कहते हैं। वैदिक धर्म में किसी मंत्र की पूर्णता तभी होती है, जब उसे 'ऊँ' से संयुक्त किया जाता है।

वेदों में परमसत्ता के निर्गुण एवं सगुण दोनों रूपों का वर्णन प्राप्त होता है। केनोपनिषद् के अनुसार जिसका यह मानना है कि ब्रह्म जानने में नहीं आता है तो ब्रह्म मेरा जाना हुआ है तो वह ब्रह्म को नहीं जानता।²⁰ माण्डूक्योपनिषद् में कहा गया है कि वह न अंतःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है और न उभयात्मक है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अज्ञ है। वह अदृष्ट, अव्यवहार्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश, एकात्मप्रत्ययसार उसमें प्रपंच का सर्वथा अभाव है, वह शांत, शिव तथा अद्वैत रूप है।²¹ श्वेताश्वतरोपनिषद् में ब्रह्म को निष्कल, निष्क्रिय, शांत, निर्दोश तथा निरंजन बताया गया है।²² श्वेताश्वतरोपनिषद् में 'साक्षी चेतनस्वरूप तथा सर्वथा गुणातीत रूप में परमात्मा का वर्णन किया गया है।²³ इस प्रकार उपनिषदों में निर्गुण विधायक श्रुतियाँ प्राप्त होती हैं। सगुण ब्रह्म की अवधारणा भी दूसरी तरफ अभिव्यक्त होती है। यजुर्वेद के अनुसार वह धर्मो को धारण करता है।²⁴ तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि जिससे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको जानने की इच्छा वही ब्रह्म है।²⁵ यदि प्राणियों की उत्पत्ति को मायाजनित या विवर्त न मानकर वास्तविक माना जाय तो परमतत्त्व को गुणयुक्त होना अनिवार्य है, क्योंकि गुण के कारण में सन्निवेश के अभाव में कार्य में गुण की उपस्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में ही ब्रह्म के सत्य, ज्ञान एवं अनन्त गुण का प्रधान रूप से वर्णन किया गया है।²⁶ वहीं पर परमात्मा को रस स्वरूप भी बताया गया है, जिसे प्राप्त कर जीवात्मा आनंदित होता है।²⁷ श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है कि परमेश्वर सम्पूर्ण जगत् में सदा व्याप्त है, ज्ञानस्वरूप परमेश्वर कालों में भी महाकाल, सर्वगुण सम्पन्न तथा सबको जानने वाला है।²⁸

इसी प्रकार वेदों में परमसत्ता के परिमाण के सम्बन्ध में भी अणु, महत् तथा अंगुष्ठमात्र इस प्रकार के भिन्न-भिन्न विचार प्राप्त होते हैं। अतः स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वैदिक वाङ्मय में एक ही परमसत्ता का अनेक रूपों में वर्णन किया गया है।

संदर्भ

1. डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन खण्ड-1, पृ० 52
2. कस्मै देवाय हविषा विधेम, ऋग्वेद-10/121
3. एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः, ऋग्वेद-1/164/46
4. सुपर्ण विप्राः कवयो वाचोभिरेकम सन्तं बहुधा कल्पयन्ति, ऋग्वेद-10/114/5
5. को अद्धा वेद क इह प्रवोचात्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः। अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथ को वेदयत आबभूव।।- ऋग्वेद-10/129/6
6. नासदासीन्नो सदासित्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत। किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गंभीरम्।।- ऋग्वेद-10/129/1
7. डॉ० राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन खण्ड-1, पृष्ठ-76-77

8. न तत्र चक्षुर्गच्छती न वाग्गच्छति नो मनो विदमो न विजानीमो ...।-केनोपनिषद्-1.3
9. यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्द ब्राह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति।- तैत्तिरीयोपनिषद्-2.4
10. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन।-कठोपनिषद्-1.2.23
11. न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा, नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलम् ध्यायमानं।-मुण्डकोपनिषद्-3/1/8
12. ऊँ खं ब्रह्मा- यजुर्वेद-40/17
13. एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्मा यदोकारः।-प्रश्नोपनिषद्-5/2
14. सर्वे वेदा यत् पदमामन्ति ब्रवीम्योमित्येतत्-कठोपनिषद्-1/2/15
15. एतद्धेवाक्षरं ब्रह्मा-कठोपनिषद्-1/2/16
16. ओमिति ब्रह्मा। ओमितिदम् सर्व- तैत्तिरीयोपनिषद्-1/9
17. ओमिति सामानि गायन्ति- तैत्तिरीयोपनिषद्-1/9
18. ओमित्येदरक्षरमिदं सर्वं सर्वमोंकार एव- माण्डूक्योपनिषद्-1
19. स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभवं वै प्रणवेन देहे-श्वेताश्वतरोपनिषद्-1/13
20. यस्यामतं तस्य मतं यस्य न वेद सः-केनोपनिषद्-2/3
21. नान्तः न प्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं आत्मा स विज्ञेयः-माण्डूक्योपनिषद्-7
22. श्वेताश्वतरोपनिषद्-6/14
23. श्वेताश्वतरोपनिषद्-6/11
24. अतो धर्माणि धारयन्- यजुर्वेद-34/43
25. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति।-तैत्तिरीयोपनिषद्-3/1
26. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म-तैत्तिरीयोपनिषद्-2/1
27. रसो वै रसः। रस ह्येवायं लब्ध्वा नन्दी भवति-तैत्तिरीयोपनिषद्-2/7
28. येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः-श्वेताश्वतरोपनिषद्-6/2